

दलित नारीवाद, रूढी-विरोधी समाजशास्त्र और नवाचारी उच्चशिक्षण की त्रिवेणी
शर्मिला रेगे, 1964-2013

सतीश देशपांडे

सीधे सपाट शब्दों में कहा जाए तो शर्मिला रेगे एक सुप्रसिद्ध नारीवादी चिंतक, स्त्री अध्ययन और समाजशास्त्र की कर्मठ प्राध्यापिका, और दलित-बहुजन विचारधारा की प्रतिबद्ध समर्थक थीं जिनको कैंसर की बिमारी ने मात्र अड़तालीस वर्ष की अल्पआयु में शरीर त्यागने को मजबूर किया। लेकिन इस शुष्क विवरण में उस दीप्तिमान, एकाग्रचित्त और जुझारू शख्सियत की कोई झलक नहीं मिलती जिसके अचानक बुझ जाने के सदमे से उनके मित्र, सहकर्मी और छात्र आज तक नहीं उबरे। उनसे और उनके बहुआयामी काम से, जहाँ एक तरफ महिला व दलित आंदोलनों को तो दूसरी तरफ उच्चशिक्षा व समाजशास्त्र के जगत को, कितनी और कैसी अपेक्षाएँ थीं इसका अनुमान उनको समर्पित स्मृतिलेखों से लगाया जा सकता है।¹

शर्मिला रेगे का मौलिक शिक्षण-प्रशिक्षण समाजशास्त्र के अनुशासन में हुआ, और इस अनुभव का उनपर गहरा असर पड़ा। जिन मुद्दों व सवालों को लेकर वे अपने अनुशासन की रूढियों से टकराती रहीं वही उनके चिरंतन सरोकार बने और उन्हीं सवालों से उनकी सार्वजनिक पहचान भी बनी। तीन मुख्य मुद्दों में पहला था समाजशास्त्रीय सिद्धांत के समक्ष नारीवादी चिंतन की चुनौती। इस मुठभेड़ को सकारात्मक संवाद में बदलने के लिए शर्मिला रेगे ने जीवन भर मेहनत की। इस प्रयास की पहली मिसाल है पीएच.डी. की उपाधी के लिए लिखा गया उनका शोध-प्रबंध, 'फ्रॉम मेनस्ट्रीम टु मेल-स्ट्रीम सोशियाँलॉजी' (मुख्यधारा समाजशास्त्र से पुरुष-धारा समाजशास्त्र तक)। 1995 में संपन्न इस शोध-ग्रंथ में शर्मिला ने समकालीन नारीवादी चिंतको का साहारा लेते हुए समाजशास्त्र के बुनियादी सिद्धांतकारों – यानी मार्क्स, एंगेल्स, वेबर, दुर्खाईम, कोम्ट एवं स्पेंसर जैसे दिग्गज विचारकों – की मौलिक समीक्षा प्रस्तुत की।² आगे चलकर इसी विषय पर उनका सुप्रसिद्ध लेख छपा – 'समाजशास्त्र और जेंडर अध्ययन का सांस्थानिक गठबंधन – कहानी मगरमच्छ और बंदर की' (रेगे 1997)। जेंडर अध्ययन जैसे नवजात सत्ताहीन विधा को समाजशास्त्र जैसे स्थापित-प्रतिष्ठित विधा का साहारा भी लेना पड़ता है और उससे संघर्ष भी करना पड़ता है। ऐसी हालत में कमज़ोर पक्ष को जिस तरह की दुविधाओं का सामना करना पड़ता है और कैसे उनका व्यावहारिक किंतु नीतिगत हल निकालना पड़ता है, इसका सटीक विवरण इस विचारोत्तेजक निबंध में पेश किया गया है जिसकी खासियत है गंभीरता और विनोद का कारगर मिश्रण। इसी निबंध ने शर्मिला

¹ देखें – 1) जे.देविका व अन्य, 2013. 2) धनागरे, 2013. और 3) मैरी जॉन 2013.

² इस शोध-प्रबंध के संदर्भ में शर्मिला रेगे के गुरु व शोध-निर्देशक वरिष्ठ समाजशास्त्री प्रो. दत्तात्रेय धनागरे का भावुक विवरण देखें – धनागरे 2013, पृ.27.

रेगे को एक संवेदनशील विचारक के रूप में स्थापित करने के अलावा उन्हें जेंडर के अग्रणी विद्वानों में शामिल किया.³

समाजशास्त्रीय प्रशिक्षण से उपजा दूसरा सवाल था जाति और समकालीन जाति-विषमता का. कहने को तो कहा जा सकता है कि यह सवाल शर्मिला को पैतृक विरासत में मिला क्योंकि उनके पिता सामाजिक कार्यकर्ता होने के अलावा बाबा साहेब अंबेडकर के सहकर्मी थे, और उनके द्वारा स्थापित सिद्धार्थ कॉलेज में पुस्तकालयाध्यक्ष भी रह चुके थे. लेकिन शर्मिला ने जाति के प्रश्न को बपौती के रूप में नहीं बल्कि स्वेच्छा से चुनी गयी चुनौती के रूप में नए सिरे से आत्मसात किया, और इसे अपने पहले सरोकार – जेंडर – के साथ जोड़कर भारतीय समाजवैज्ञानिक परिवेश में एक नए शोध-क्षेत्र को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई. यह नया क्षेत्र दलित-नारीवाद का है जिसे शर्मिला रेगे ने अपनी विशिष्ट कर्मभूमि बनाया, और इसके समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के भारतीयकरण में मदद की.⁴

दलित नारीवाद का विचारधारात्मक और सैद्धांतिक आधार है 'स्टैंडपॉइंट थ्योरी' (दृष्टिबिंदु सिद्धांत) जो संयुक्त राज्य अमेरिका में 1980 व 1990 के दशकों में प्रचलित हुआ. संक्षेप में कहें तो इस मत की केंद्रीय स्थापना यह है कि हमारा समाज बोध व यथार्थ ज्ञान सार्वभौमिक या संदर्भ-निरपेक्ष नहीं होता बल्कि यह अवस्थिति-जनित और संदर्भ-निर्भर होता है. यानी हम कहाँ खड़े हैं – यही सवाल हमारी 'दृष्टि' का 'कोण' तय करते हुए हमारे ज्ञान का स्वरूप भी तय करता है. मोटे तौर पर इस सिद्धांत को 'अस्मिता की राजनीति' (आईडेंटिटी पॉलिटिक्स) का विरोधी विकल्प माना जाता है. बारीकियों में उतरे बिना यहाँ सिर्फ इतना कहना काफी है कि इस विरोध का मूल कारण है अनुभव और ज्ञान के रिश्ते को लेकर बुनियादी मतभेद. जहाँ अस्मिता विमर्श का मानना है कि अनुभव ही ज्ञान हासिल करने का सर्वश्रेष्ठ और सबसे वैध साधन है, वहीं दृष्टिबिंदु सिद्धांत का दावा है कि अनुभव और ज्ञान के बीच कोई अनिवार्य या अवश्यंभावी रिश्ता नहीं है. इस स्थापना का फौरी निहितार्थ यही है कि दलित नारीवादी दृष्टिबिंदु (स्टैंडपॉइंट) को अपनाने और इससे साध्य ज्ञान को पाने के लिए अथक मेहनत और अटूट प्रतिबद्धता तो अनिवार्य है – लेकिन इसके लिए साधक का स्वयं दलित होना आवश्यक नहीं है (कायदे से स्त्री होना भी अनावश्यक है). इस धारणा को लेकर पिछले एक दशक से तनावपूर्ण विवाद चल रहे हैं क्योंकि इन दिनों एक नयी अस्मिता-प्रधान दलित राजनीति मुखर हुई है. इस पक्ष के अनुसार दलित मुद्दों पर दलित

3 इसका एक लक्षण यह है कि समाजशास्त्र के शिखर संस्थान, भारतीय समाजशास्त्रीय समाज, ने अपनी शोधपत्रिका *सोशियोलॉजिकल बुलेटिन* में से जेंडर संबंधी लेखों को संपादित कर उन्हें पुस्ताकार में प्रकाशित करने का जिम्मा शर्मिला रेगे को ही सौंपा. देखें रेगे 2002.

4 इस काम की शुरुआत होती है 1998 के उस पर्व से जिसमें उन्होंने सुप्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री प्रो. गोपाल गुरु के लेख पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए दलित नारीवादी दृष्टिबिंदु (स्टैंडपॉइंट) की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की. आगे का काम उनकी 'जाति लेखन, जेंडर लेखन' नामक किताब (रेगे 2006) में मिलता है जिसमें उन्होंने दलित महिलाओं के जीवन-संदेशों का संकलन किया. इस दिशा में शर्मिला की आखरी पहल थी बाबा साहेब अंबेडकर के मनुवादी पितृसत्ता के खिलाफ लिखे निबंधों का संकलन, जो उनकी मृत्यु के दो या तीन हफ्ते पहले प्रकाशित हुआ (रेगे 2013).

कार्यकर्ताओं और बुद्धिजीवियों को ही बोलना चाहिए, या कम से कम उन्हें प्राथमिकता दी जानी चाहिए, जबकि आमतौर पर इसका ठीक उल्टा ही होता रहा है और ग़ैरदलित वक्ता ही हावी रहे हैं।

ब्राह्मण परिवार में जन्मी दलित समर्थक होने के नाते, और पितृसत्तात्मक समाज (दलित व ग़ैर-दलित) में मुखर नारीवादी महिला होने के नाते, शर्मिला रेगे इन तनावभरे मतभेदों की आँच को बराबर झेलती रहीं और अपनी ओर से सकारात्मक, ईमानदार व संवेदनशील जवाब देने का सतत प्रयास करती रहीं।⁵ ऐसा नहीं है कि उनके वक्तव्य सदा सर्वमान्य थे या उनकी स्थापनाएँ त्रुटिमुक्त थीं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सैद्धांतिक मामलों पर उनकी पकड़ हमेशा सूक्ष्म या सुदृढ़ थी। लेकिन तमाम कमियों-खामियों के बावजूद जिस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता वह है उनकी संपूर्ण प्रतिबद्धता। उनमें एक अनोखी असीम ऊर्जा भरी थी और पिछले कुछ सालों में उनसे मिलने वालों को तीव्र एहसास होता था कि शर्मिला अपना सबकुछ – समय, शरीर, समस्त अस्तित्व – अपने काम में झोंक दे रही हैं।

महाराष्ट्र और स्त्री अध्ययन (विमेन्स स्टडीज़) के बाहर के लोग, जो उनको प्रायः एक बुद्धिजीवी के रूप में जानते हैं, यह जानकर हैरान होंगे कि जिस काम की खातिर शर्मिला रेगे अपने स्वयं को इस कदर 'खर्च' कर दे रहीं थीं वह मूलतः सामूहिक-सांस्थानिक था न कि व्यक्तिगत-बौद्धिक। आज के अति-पूँजीवादी युग में अकादमिक जगत भी वैयक्तीकरण और पण्यीकरण (कॉमॉडिफिकेशन) की प्रक्रियाओं से गुज़र रहा है। समकालीन अकादमिक बाज़ार का मूल मंत्र है 'दृश्यता' (विज़िबिलिटी), और इसे पाने के लिए ज़रूरी है बिकाऊ माल। इस नज़रिए से देखें तो बौद्धिक श्रम को भुनाने के लिए ज़रूरी है कि उसे किसी ठोस व पृथक उत्पाद के निर्माण में लगाया जाए जो बाज़ार में अपने निर्माता की पहचान बना सके। और वही बौद्धिक उत्पाद सर्वाधिक दृश्यता प्रदान करते हैं जिनकी मल्लिकयत स्पष्ट हो, यानी जिनपर किसी व्यक्ति-विशेष का निर्विवाद अधिकार हो। यही कारण है कि किताबें, शोध-लेख व इस किस्म की व्यक्ति-संलग्न कृतियाँ ही अकादमिक बाज़ार में मुद्रा और संपत्ति दोनों के प्रभावी स्वरूप बनते हैं। ऐसे में हर महत्वाकांक्षी बुद्धिजीवी की यही कोशिश रहती है कि वह ज़्यादा से ज़्यादा ऐसा माल तैयार कर उसे जल्द से जल्द मंडी में लाए।⁶ इन व्यावसायिक वास्तविकताओं के चलते विश्वविद्यालयों के साधारण शिक्षक तो क्या कर्तव्यनिष्ठ कहलाने वाले प्रॉफेसरान भी उन ज़िम्मेदारियों से बचने लगे हैं जो शोहरत और व्यावसायिक तरक्की के लिहाज से लगभग अप्रासंगिक हो गई हैं। सबसे ज़्यादा असर पड़ा है अध्यापन कार्य पर – खासकर उन छात्रों के शिक्षण-प्रशिक्षण पर जो 'कमज़ोर' कहलाते हैं क्योंकि उनके पास न तो संपन्न परिवार और महंगी स्कूली-शिक्षा का कवच है और न ही अंग्रेज़ी का ब्रह्मास्त्र। ऐसे छात्रों की शिक्षा-दीक्षा पर मेहनत करके आप अकादमिक बाज़ार के लाड़ले नहीं बन सकते क्योंकि इस प्रकार के श्रम से दृश्यता हासिल करना नामुमकिन है।

⁵ उनकी कोशिश थी की अस्मिता के महत्व – यहाँ तक की उसकी प्रधानता – को कुबूल करने के बाद भी दृष्टिबिंदु तक पहुँचने के अस्मिता-निरपेक्ष मार्ग को खुला रखा जाए।

⁶ यहाँ केवल उन प्राध्यापकों की बात हो रही है जो ऊँची तनख्वाह की सुरक्षित नौकरी मात्र से संतुष्ट नहीं हैं और इससे आगे भी नाम कमाना चाहते हैं।

ठीक इसी प्रकार के छात्रों के साथ काम करने के लिए शर्मिला रेगे ने अपना करियर दांव पर लगा दिया। पुणे विद्यापीठ के समाजशास्त्र विभाग की (जो विषय के अग्रणी विभागों में गिना जाता था) विभागाध्यक्ष नियुक्त होने के बावजूद उन्होंने उसी विश्वविद्यालय के क्रांतिज्योति सावित्रीबाई फुले स्त्री अध्ययन केंद्र का निदेशक बनना बेहतर समझा। इस केंद्र से शर्मिला शुरू से जुड़ी रहीं और उनके व उनके सहकर्मियों के लगभग दो दशकों के अध्यापन व सांस्थानिक काम की बदौलत आज यह देश के सर्वश्रेष्ठ स्त्री अध्ययन केंद्र होने का दावा कर सकता है। यहाँ 'कमज़ोर' छात्रों के अध्यापन के लिए वह सबकुछ व्यावहारिक रूप से अमल में लाया गया जो औरों के लिए मात्र नेक इरादे तक सीमित रहा है – विशिष्ट सेतु पाठ्यक्रमों का निर्माण व उनकी मदद से छात्रों का सघन मौलिक प्रशिक्षण, द्विभाषी पाठ्यपुस्तकों का लेखन,⁷ उपयुक्त सामग्री का मराठी में अनुवाद करने का विस्तृत व योजनाबद्ध प्रयास, और छोटे शहरों व कस्बों की शैक्षणिक संस्थाओं से औपचारिक व अनौपचारिक संबंध। यानी कुल मिलाकर औसत 'प्रतिबद्ध प्राध्यापक' उच्चशिक्षा के जिस स्वाभाविक आभिजात्य का केवल दुखड़ा रोते रहते हैं, उसके खिलाफ शर्मिला व उनके सहकर्मियों ने एक सुविचारित ज़मीनी जंग छेड़ दी।

कहा जा सकता है कि उच्चशिक्षा का आभिजात्य वह तीसरा सवाल है जो शर्मिला को समाजशास्त्र से मिला, पर यहाँ इसे साबित करने की ज़रूरत नहीं। वैसे भी शर्मिला रेगे को किसी एक अनुशासन या संदर्भ से बाँधकर रखना अनुचित और असंभव है। उनकी अपनी नज़र में वह एक 'वेल्डर' थीं (रेगे 2010) जिनका काम था पुल बाँधना, सेतु बनाना, वंचितों का उस दुनिया से परिचय कराना जिससे वे वंचित रहे हैं, भिन्न और संशयी मतों को एक दूसरे से मिलवाना... इस लंबे सफर की मंजिल किसी घर्षण-मुक्त एकता के रूमानी सपने में नहीं थी बल्कि एक ऐसे भविष्य में थी जहाँ पृथक दृष्टिबिंदुओं और विशिष्ट सरोकारों में आपसी संवाद की संभावनाओं को जिवित रखा जा सके।

संदर्भ

1. जे.देविका, मैरी जॉन, कल्पना कन्नाबिरन, समिता सेन, एवं पद्मिनी स्वामिनाथन 2013. ट्रिब्यूट टू ए फुले-अंबेडकराईट फेमिनिस्ट वेल्डर (एक फुले-अंबेडकरवादी नारीवादी वेल्डर को श्रद्धांजलि), *इकनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली*, व.48, अं.32, 10 अगस्त, 2013, पृ.22-25.

⁷ ऐसी पुस्तकों का एक सुंदर व सफल उदाहरण है वह प्राकल्प जिसके ज़रिए छात्रों ने वंचित समुदायों और वर्गों के सदस्यों से साक्षात्कार कर उनके खान-पान संबंधी विचारों और अनुभवों के विवरण प्रस्तुत किए। इस उदाहरण से हम यह भी देख सकते हैं कि कैसे 'महिला-सुलभ' कहलाने वाले विषय – खाना पकाने के नुस्खे व तौर-तरीके, इत्यादि – को ऐसी दिशा दी जा सकती है कि उसके द्वारा जाति भेद, ऊँच-नीच की भावना और सामाजिक वर्चस्व जैसे मुद्दों को स्थानीय भाषा (मराठी) में एक सरल सटीक सवाल में समेटा जा सकता है – ही थाली भारतीय नाही का? (क्या यह थाली भारतीय नहीं? देखें विमेन्स स्टडीज़ क्लास ऑफ 2009).

2. डी.एन्. धनागरे 2013. शर्मिला रेगे (1964-2013) – परस्यूइंग नॉलेज फॉर सोशियल ट्रांसफॉर्मेशन (सामाजिक रूपांतरण के लिए ज्ञान की साधना), *इकनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली*, व.48, अं.32, 10 अगस्त, 2013, पृ.25-27.
3. मैरी जॉन 2013. शर्मिला रेगे (1964-2013), *कॉन्ट्रिब्यूशन्स टू इंडियन सोशियाॅलॉजी*, व.47, अं.3, अक्तूबर 2013, पृ.445-48.
4. शर्मिला रेगे 1997. इनस्टिट्यूशनल अलायन्स बीट्वीन सोशियाॅलॉजी एण्ड जेंडर स्टडीज़ – स्टोरी ऑफ द क्रॉकोडाईल एण्ड मंकी. *इकनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली*, अगस्त 1997, पृ.2023-27.
5. शर्मिला रेगे 1998. दलित विमेन टॉक डिफरेंटली – ए क्रिटीक ऑफ डिफरेंस एण्ड टूवर्ड्स ए दलित फेमिनिस्ट स्टेंडपॉईंट पोज़िशन. *इकनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली*, व.33, अं.44, 31 अक्तूबर से 6 नवंबर, 1998, पृ. WS39-46
6. शर्मिला रेगे (सं.) 2003. *सोशियाॅलॉजी ऑफ जेंडर – द चेलेंज ऑफ फेमिनिस्ट सोशियाॅलॉजिकल नॉलेज*. सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली.
7. शर्मिला रेगे 2006. *राईटिंग कास्ट राईटिंग जेंडर – रीडिंग दलित विमेन्स टेस्टिमोनियोस*. जुबान, नई दिल्ली.
8. शर्मिला रेगे (श्रृंखला संपादक) 2010. बिल्डिंग ब्रिजस – ऑन बिकमिंग ए वेल्डर. ब्रिज कोर्स मेन्युल, क्रांतिज्योति सावित्री बाई फुले विमेन्स स्टडीज़ सेंटर, पुणे विद्यापीठ, पुणे.
9. शर्मिला रेगे 2013. *अगेंस्ट द मैडनेस ऑफ मनु – राईटिंग्स ऑन ब्राह्मोनिकल पेट्रिआर्की बाय बी.आर. अंबेडकर*. नवायन, नई दिल्ली.
10. विमेन्स स्टडीज़ क्लास आफ 2009. *ही थाली भारतीय नाही का? (क्या यह थाली भारतीय नहीं?)*. क्रांतिज्योति सावित्री बाई फुले विमेन्स स्टडीज़ सेंटर, पुणे विद्यापीठ, पुणे.